अध्याय 7

रबी की फसलों के रोग
(Diseases of Rabi Crops)

1. गेहूँ का काला या स्तम्भ रोली रोग (Black or Stem Rust of Wheat) :–

भारत में यह रोली उन सभी क्षेत्रों में पाया जाता है, जहाँ गेहूँ की खेती की जाती है। यह भारत के मैदानी क्षेत्रों के अतिरिक्त, पहाड़ों पर 10,000 फीट ऊँचाई वाले क्षेत्रों में भी मिलता है, परन्तु उत्तरी भारत से पिछले कुछ समय से यह रोग गेहूँ की फसल पर प्रकट नहीं हो रहा हैं परन्तु देश के दक्षिणी एवं प्रायद्वीपीय भागों में यह रोग नवम्बर माह में दिखाई देता है, जिससे गेहूँ की फसल को अत्यधिक हानि होती है।

लक्षण (Symptoms) : इस रोग के प्रारम्भिक लक्षण पौधें के तने, संधि स्तम्भ, पर्णाच्छद, पत्तियों के निचली सतह एवं डंठलों पर उनके लम्बे अक्ष के समानान्तर लम्बें एवं संकीर्ण दीर्घवृत्ताकार प्रभामण्डल सहित या उसके रहित फफोलों या स्फोटों (Pustules) के रूप में प्रकट होते हैं।

ये स्फोट यूरिडिनियम होते हैं और इनको ढकने वाली झिल्ली के नष्ट होने या फटने पर भूरे रंग के

चित्र– 7.1 गेहूँ के पौधे पर स्तम्भ किट्ट के लक्षण

यूरीडिनियो बीजाणु चुर्णी समूह में निकलते हुये दिखाई देते हैं। फसल के पकते समय इन स्फोटों का रक्ताभ भूरा रंग गहरे भूरे रंग या काले रंग में परिवर्तित हो जाता हैं। ऐसा टीलियम बनने से होता हैं।

टीलियम में अखरोट जैसे गहरे भूरे रंग के टीलियो बीजाणु भरे रहते हैं। इस रोग की उग्र अवस्था में पौधे बौने रह जाते हैं एवं दौजीया भी कम निकलती हैं और बालियों में दाने सिकुडे हुऐ, हल्के भार के बनते हैं या कभी– कभी बनते ही नही हैं। भूसा भी सूख कर भंगूर हो जाता हैं।

रोगजनक (Pathogen) : *पक्सीनिया ग्रेमिनिस ट्रीटीसाई (Puccinia graminis tritici)*

यह एक विकल्पी तथा बहुरूपी कवक होता हैं, क्योंकि इसके सम्पूर्ण जीवन चक्र में पांच प्रकार के बीजाणु क्रमशः (1) टीलियोबीजाणु, (2) यूरेडोबीजाणु, (3) बेसिडियोबीजाणु, (4) स्पर्मेशिया/पिकनोस्पोर, (5) इसियोबीजाणु बनते हैं।

यूरेडोबीजाणु, टीलियोबीजाणु गेहूँ पर एवं पिक्नोबीजाणु व इसियोबीजाणु एकान्तर परपोषी बरबेरिस/महोनिया या महोबरबेरिस पर बनते हैं। क्योंकि इस कवक में सभी अवस्थाएं पायी जाती हैं, अतः इसे दीर्घ चक्री कवक कहते हैं। क्योंकि यह कवक अपना जीवन चक्र दो परपोषियों पर पूर्ण करता हैं। अतः इसे भिन्नाश्रयी (heteroecious) कवक भी कहते हैं।

यूरेडोबीजाणु (Urediospore) – यह एक कोशिक अण्डाकार से दीर्घवर्ताकार, द्वीकेन्द्रकी, भूरे रंग के बीजाणु होते हैं, जिनके बाहय भित्ती पर लघू शूल (Tiny spines) जैसी संरचनाए पायी जाती हैं। इसमे चार जनन छिद्र होते हैं।

टीलियोबीजाणु (Teliospore)– टीलियोबीजाणु सवृंतीय, द्वीकोशिकीय, तर्कुरूप मोटी भित्ती वाला, गोल शीर्ष या थोडा नुकीले होते हैं। अग्रसिरे पर भित्ती की मोटाई अधिक होती

AGRIGYAN.IN

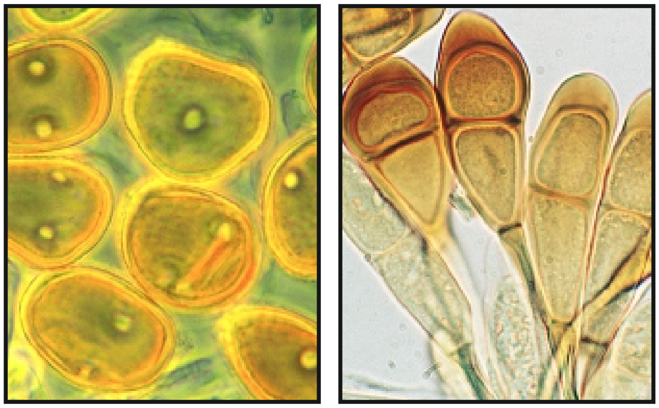

चित्र 7.1 ए : यूरेडियोबीजाणु एवं टीलियोबीजाणु

हैं तथा इनका रंग गहरा भूरा अखरोट के जैसा होता है। प्रारम्भ में टीलियोबीजाणु द्वीकेन्द्रकीय होते हैं परन्तु परिवक्व होने पर द्वीगुणित एक केन्द्रकीय हो जाते हैं तथा अंकुरित होकर प्रोबेसिडियम बनाते हैं जिस पर एक केन्द्रकीय लैंगिक बेसिडियो बीजाणु बनते हैं।

बेसिडियो बीजाणु (Basidiospore)– प्रोबेसिडियम की प्रत्येक कोशिका की प्रांगुल पर एक कोशिकीय, एक केन्द्रिकीय, अगुणित बीजाणु बनते हैं जिन्हे बेसिडियो बीजाणु कहते हैं। यह एकान्तर परपोषी को संक्रमित करते हैं।

स्पर्मेशिया/पिक्नो बीजाणु (Pycnospore)– बेसिडियो बीजाणुओं का अंकुरण एकान्तर परपोषी, बरबेरिस, महोनिया पर होता है तथा परपोषी में प्रवेश कर एक केन्द्रकी, पटयुक्त कवक जाल बनाते हैं जिससे 3–4 दिन बाद फ्लास्क की तरह की संरचना पिक्निया बनते हैं जिसमें एक केन्द्रकीय पत्तली भित्ती वाले पिक्नोबीजाणु या र्स्पमेशिया तथा रिसेप्टिवहाइफी / ग्राहय कवक तन्तु बनते हैं। विपरीत प्रकृति के र्स्पमेशिया / पिक्नोबीजाणु तथा ग्राहय कवक तन्तु आपस में संलयित होकर द्वीकेन्द्रकीय कवक जाल का निर्माण करते हैं जो पत्ती की निचली सत्तह पर एकत्रित होकर ईसियोबीजाणु का निर्माण करते हैं।

ईसियोबीजाणु (Aeciospore)– ये एक कोशिकीय, द्विकेन्द्रकीय, षटकोणिय स्पष्ट मोटी भित्ती युक्त होते हैं। इनमें छः जनन छिद्र पाये जाते हैं। ये बीजाणु श्रृंखला में बनते हैं और ये आपस में एक अन्तरवेशी वियोजक द्वारा जुडे रहते हैं। ये अंकुरण कर प्राथमिक परपोषी गेहूँ को संक्रमित कर सकते हैं तथा यूरेडोबीजाणु का निर्माण करते हैं।

रोग चक्र (Disease Cycle)– भारत वर्ष में इस रोग की पुनरावर्ती के लिए एकान्तर परपोषी की आवश्यकता नहीं होती हैं, क्योंकि पुनरावर्ती के लिए पहाड़ों एवं ऊचें स्थानों पर ग्रीष्मकाल में बोयी हुई गेहूँ की फसल, जंगली गेहूँ या अन्य सम्पार्श्विक परपोषियों पर कवक जीवित बने रहते हैं, तथा मैदानों पर गेहूँ पर प्राथमिक निवेश द्रव्य का कार्य करते हैं। *पक्सीनिया ग्रेमिनिस* के लिये *ब्रेकीपोडियम सिलवैटिकम, ब्राइजा माइनर, ब्रोमस पेटूलस एग्विना फेटुआ* आदि घास की जातियाँ सम्पार्श्विक परपोषी के रूप में कार्य करती हैं। भारत में नीलगिरी व पुलनी पहाडियाँ व हिमालय के तराई क्षेत्र में स्वतः उगे गेहूँ या ग्रीष्म काल में की जा रही खेती पर बने यूरेडोबिजाणु प्राथमिक निवेश द्रव्य के रूप में मैदानों में बोये गये गेहूँ पर संक्रमण करते हैं। इस प्रकार प्रतिवर्ष मैदानी भागों में किट्ट रोग उपस्थित होता हैं। ग्रीष्मकाल में अत्यधिक तापक्रम के कारण मैदानों में पूर्व में उपस्थित यूरेडोबिजाणु नष्ट हो जाते हैं।

प्रबन्धन (Management):

शस्य प्रबन्धन (Cultural management):

(1) गेहूँ की शीघ्र पकने वाली किस्म बोकर रोग के प्रकोप से बचा जा सकता हैं एवं देर से पकने वाली किस्मों की बुवाई शीघ्र की जानी चाहिए।

(2) फसलों में प्रतिरोध क्षमता बढ़ाने के लिए संतुलित उर्वरकों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(3) संतुलित सिंचाई की जानी चाहिए।

जैविक प्रबन्धन (Biological managment):

रोग प्रतिरोधी किस्में– एच.डी. 2867, एन.आई.डी.डब्ल्यू. 295, एच.पी.डब्ल्यू. 217, 224, 228, एच.एस. 375, 443, 456, 460, वी.एल. 867, 868, एच.डी. 2865, 2594, 2834, पी.बी.डब्ल्यू. 525, 530, यू.पी. 2594 आदि को बोया जाना चाहिए।

रासायनिक प्रबन्धन (Chemical management):

(1) रोग के लक्षण दिखाई देने पर ट्राइऐडिमेफॉन 0.2 प्रतिशत के दो छिडकाव, सात से बीस दिन के अन्तराल पर करने से रोग तीव्रता को कम किया जा सकता है।

(2) रोग लक्षणों के प्रकट होने पर जिनेब 76 प्रतिशत डब्ल्यू.पी. (15–20 किलोग्राम प्रति. हेक्टेयर) अथवा घुलनशील गंधक (0.25 प्रतिशत) या ऑक्सीकार्बोक्सिन 20 ई.सी. (0.2 प्रतिशत) के 4–5 छिड़काव, 8 से 10 दिन के अन्तर पर कर रोग प्रबन्धन किया जा सकता है।

2 गेहूँ का भूरा या पर्ण किट्ट रोग (Brown or Leaf Rust of Wheat) –

यह रोग विश्व के सभी भागों में पाया जाता है। भारत के उत्तरी एवं पूर्वी भागों में इसका प्रकोप अधिक पाया जाता है, जैसे– पंजाब, बिहार, व उत्तर प्रदेश राज्यों में यह रोग अधिक तीव्रता से फैलता है, जब शरद ऋतु की वर्षा के साथ अन्य वातावरणीय कारक अनुकूल होते हैं। वर्ष 1972–73 में यह रोग

AGRIGYAN.IN

महामारी के रूप में प्रकट हुआ जिसमें अनुमानतः 1.5 मिलियन टन गेहूँ के उत्पादन की हानि हुई। वर्ष 1985–86 में पश्चिमी उत्तर प्रदेश में गेहूँ की फसल, इस रोग से अत्यधिक प्रभावित रही। इस रोग को नारंगी ,गेरूआ, रोली या गेरूई के नाम से भी जाना जाता है।

लक्षण (Symptoms)– पर्ण रोली रोग का प्रथम लक्षण पत्तियों के सतह पर बिखरे हुए छोटे, गोलाकार, चमकीले, नारंगी रंग के यूरेडिनियम स्फोट के रूप में दिखाई देते हैं।

ये प्रारम्भ में पत्ति के ऊपरी सतह पर दिखाई देते हैं तत्पश्चात निचली सतह पर भी बन जाते हैं, परिपक्व होने पर भूरे रंग के हो जाते हैं एवं बाह्य त्वचा के फटने पर यूरेडोबीजाणु भूरे रंग के चूर्ण के रूप में पत्तियों एवं आस–पास के वातावरण में फैल जाते हैं।

प्रारम्भ में स्फोटों के चारों तरफ के ऊतकों में कोई विवर्णन या अपवर्णता नहीं दिखाई देती है, परन्तु पत्ती पूर्ण रूप या आंशिक रूप से पीली दिखाई देने लगती हैं। जब फसलें पकने को होती हैं तो पत्ती के निचली सतह पर बाह्य त्वचा से ढके हुये छोटे अण्डाकार धूसर या काले रंग के टीलिया बनते हैं।

संक्रमित पौधों की मृत्यु परिपक्व होने से पूर्व ही हो जाती है। पौधों के प्रकाश संश्लेषण की क्रिया में बाधा पडने के कारण बाली में दानें सिकुडे हुये बनते हैं। गंभीर अवस्था में पौधे आकार में छोटे रह जाते हैं तथा उनका जड़ तंत्र भी अल्पविकसित रह जाता हैं।

चित्र 7.2 : गेहूँ की पत्तियों पर पर्ण किट्ट का प्रभाव

रोगजनक (Pathogen)– *पक्सिनिया रिकॉन्डिटा (Puccinia recondita)*

यह एक भिन्नाश्रयी रोली (heteroecious rust) हैं। यूरेडियम एवं टिलियम अवस्थाएं गेहूँ पर प्रकट होती हैं। जबकि एसिडियल एवं पिकनिडियल अवस्था एकान्तर परपोषी थैलिक्ट्रम पर पायी जाती हैं। भारत में *थैलिक्ट्रम जेपोनिकम* एवं *थैलिक्ट्रम फ्लेवम* की बहुत कम भूमिका पायी जाती हैं। रूस में *आइसोपाइरम फ्यूमेरिओइड्स* एकान्तर परपोषी की भूमिका अदा करता हैं।

यूरेडोबीजाणु (Urediospore)– ये भूरे रंग के गोलाकार, द्विकेन्द्रकीय, सवृंतीय, एक कोशिक 16–28 माईक्रोमिटर व्यास के होते हैं। बाह्य भित्ति शूलयुक्त (echinulated) होते हैं, इनमें 7 से 10 जनन छिद्र पाये जाते हैं। यूरेडोबीजाणु एक से अधिक जनन नलिकाएँ बनाकर अंकुरित होते हैं, तथा जनन नलिका पत्ती में वातरन्ध्र के द्वारा प्रविष्ट होकर संक्रमण फैलाती हैं।

टीलियोबीजाणु (Teliospore)– ये बीजाणु जब प्रकट होते हैं तो गेहूँ की पत्ती की निचली सतह पर बनते हैं और बाह्य त्वचा से ढके रहते हैं। ये भूरे रंग के द्विकोशिकीय आयताकार भूरे मोटी भित्ति वाले एवं चिकने होते हैं इन बीजाणुओं के सिरे मोटे भित्ति एवं गोलाकार होते हैं। ये पटीय भागों पर थोडा संकुचित होते हैं।

टीलियोबीजाणु पुञ्ज बन्धय सहसूत्रों द्वारा समूहों में बटे रहते हैं। टीलियोबीजाणु अंकुरित होकर चार कोशिकीय प्राक्कवकतन्तु (probasidium) बनाते हैं जिन पर एक कोशिक, एक केन्द्रकीय अगुणित बेसिडियोबीजाणु बनते हैं जो थेलिक्ट्रम पर संक्रमण करते हैं।थेलिक्ट्रम पर ऐसियोबीजाणु बनते हैं, जिनसे यूरेडोबीजाणु बनते हैं और इस प्रकार रोग चक्र पूरा होता हैं।

प्रबन्धन (Management) :

शस्य प्रबन्धन (Cultural management) :

तना किट्ट रोग के समान ही किया जाता है।

जैविक प्रबन्धन (Biological managment) :

प्रतिरोधी किस्में – एच.डी. 2830, 2834, 2865, 2867 एन.आई.डी.डब्ल्यू. 295, 309, एच.पी.डब्ल्यू. 217, 224, 228, एच.एस. 375, 443, 456, 460, पी.बी.डब्ल्यू. 525, 530, बी. एल. 867, 868, ऐ.के.डी.डब्ल्यू. 2997, यू.पी. 2594 इत्यादि की बुवाई करनी चाहिए।

रासायनिक प्रबन्धन (Chemical management)

1. रोग प्रकट होने पर ट्राइएडिमेफॉन (0.2 प्रतिशत) या जिनेब (0.25 प्रतिशत) प्रोपेकोनेजोल (0.1 प्रतिशत) का 15 दिन के अन्तराल पर दो छिडकाव कर नियंत्रित किया जा सकता हैं।

3 गेहूँ का पीला रोली रोग (Yellow Rust of Wheat) :

इस रोग का प्रकोप विश्वव्यापी हैं। भारत में दक्षिणी एवं

AGRIGYAN.IN

पश्चिमी भागों की अपेक्षा उत्तरी एवं पूर्वी भागों में इसका प्रकोप अधिक होता हैं। यह किट्ट पंजाब, में गुरदासपुर, रोपड़, उत्तर प्रदेश एवं उत्तराखण्ड के तराई क्षेत्रों में प्रकट होता है। दक्षिण में यह नीलगीरी एवं पुलनी पहाडी पर पाया जाता है। इस रोली को हरदा के नाम से भी जाना जाता हैं।

लक्षण (Symptoms)– इस रोली के लक्षण पत्तियों पर छोटे–छोटे अण्डाकार पिन के सिर जैसे, पंक्तियों में हल्के पीले या चमकीले नींबू के समान पीले रंग के यूरेडोस्फोटो के रूप में दिखाई देते हैं।

उग्र अवस्था में स्फोट पर्णाच्छद, बाह्य पुष्प कवच, वृंत दोनों ओर डंठल पर भी बन जाते हैं, जिन स्थानों पर स्फोट, पंक्तियों में बनते हैं, पत्ती का रंग हल्का हो जाता हैं। यूरेडियम की बाह्य त्वचा फटने पर युरेडोबीजाणु वातावरण में बिखर जाते हैं।

चित्र 7.3 गेहूँ पर पीले किट्ट का प्रभाव

फसल की परिपक्व अवस्था में पहुँचने पर पर्णाच्छद, स्तम्भों पर काले रंग के पंक्तिबद्ध बिन्दु में टीलियोबीजाणु बनते हैं, जो काली पपड़ीनुमा मोटी बाह्य त्वचा से ढके रहते हैं।

रोगजनक (Pathogen)– *पक्सीनिया स्ट्राईफॉर्मिस (Puccinia striiformis)*

पक्सीनिया स्ट्राईफॉर्मिस एक भिन्नाश्रयी कवक है, इसके यूरेडियम या टीलिया अवस्थाएं प्राथमिक परपोषी गेहूँ पर मिलती हैं। इस कवक का एकान्तर परपोषी ज्ञात नही है। यूरेडोबीजाणु गोलाकार, एक कोशिकीय तथा द्विकेन्द्रकीय होते हैं। इनमें जनन छिद्रों की संख्या 6 से 16 तक पायी जाती है तथा भित्ती रंगहीन महिन शूलयुक्त होती है। टीलियाबीजाणु गहरे भूरे रंग के द्विकोशिकीय, मोटी भित्ति युक्त दीर्घवर्ताकार सिर पर चपटे होते हैं। टीलियाबीजाणु अंकुरण कर चार कोशिकीय प्राक्तन्तु या प्रोबेसिडियम बनाते हैं, जिस पर बेसिडियोबीजाणु बनते हैं।

रोग चक्र (Disease Cycle)– भारत में यह किट्ट 1500–1800 मीटर की ऊँचाई पर स्वयं उग आये गेहूँ के पौधों पर यूरेडोबीजाणु के रूप में जीवित बने रहते हैं तथा मैदानों में आकर गेहूँ की फसल पर संक्रमण करते हैं। कुछ खरपतवार जैसे– *ऐग्रोपाइरॉन सेमीकास्टेटम, ब्रोमस केथार्टिकस, ब्रोमस जैपोनिकस, हार्डियम म्यूरिनम* भी संपार्श्विक परपोषी के रूप में कार्य करते हैं।

प्रबन्धन (Management):

शस्य प्रबन्धन (Cultural management):

1. संपार्श्विक परपोषियों को नष्ट कर देना चाहिए।

जैविक प्रबन्धन (Biological managment):

प्रतिरोधी किस्म – बी.एल. 824, 829, 864, 867, 868, एच. डी. 2819, 2830, 2834, 2865, 2867, राज. 4028, 6566, एन. आई.डी.डब्ल्यू. 29295, 309, ए. के.डी. डब्ल्यू. 2997–16, यू.पी 2594, एच.एस. 443, 456, 460, पी.बी.डब्ल्यू. 525, 530, का प्रयोग किया जाना चाहिए।

रासायनिक प्रबन्धन (Chemical management):

1. सर्वांगी कवकनाशी ऑक्सीकार्बोक्सीन (0.2 प्रतिशत) या प्रोपेकोनेजोल (0.1 प्रतिशत) का छिडकाव कर इस रोग की रोकथाम की जा सकती हैं।

4. गेहूँ का अनावृत्त या छिदरा कण्ड (Loose Smut of Wheat) –

गेहूँ की फसल पर लगने वाले रोगों में अनावृत कण्ड एक महत्त्वपूर्ण रोग है। इसे स्थानीय भाषा में भारत के विभिन्न भागों में कन्जीयारी, केरंजुवा, कंडुआ, कान्ही, कायमा, कालिमा, शिथिल या श्लथ आदि नामों से भी जाना जाता है।

ये भारतवर्ष के सभी भागों में पाया जाता है। ये पश्चिमी उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखण्ड, सिन्धु गंगा के मैदानों एवं उत्तरी पहाडियों पर विशेष रूप से पाया जाता है।

लक्षण (Symptoms)– इस रोग का प्रथम लक्षण पौधों से बालियां निकलने पर ज्ञात होता है, जब बाली के स्थान पर काले रंग का कोयले के चुर्ण जैसा पदार्थ रेचिस या सुक पर दिखाई देता है। प्रारम्भ में, सम्पूर्ण बाली एक पतली चमकीली झिल्ली से ढकी रहती है परन्तु यह अत्यंत भंगुर होने के कारण फट जाती है तथा सभी बीजाणु हवा द्वारा विसरीत कर दिये जाते हैं। इसलिए इस रोग को अनावृत कण्ड (Loose smut) कहते हैं।

रोगजनक (Pathogen)–

गेहूँ का अनावृत्त कण्ड – *अस्टिलेगो सेजेटम* प्रजाति *ट्रिटिसाई (Ustilago segetum var. tritici)*

कण्ड रोग के बीजाणु पीले, ऑलिव भूरे, गोलाकार से

AGRIGYAN.IN

अण्डाकार आकृति के होते हैं। इसके उपर छोटे– छोटे काँटे जैसी सँरचनाएं पायी जाती हैं। प्रत्येक बीजाणु चार कोशिकीय प्राक्तंतु बनाकर अंकुरित होता हैं, जिसकी प्रत्येक कोशिका से एक संक्रमण सूत्र (Infection thread) निकलता है। दो संक्रमण सूत्र मिल कर द्विकेन्द्रकीय संक्रमण सूत्र का निर्माण करते हैं जो वृतिकाग्र को भेदकर भ्रूण तक पहुँच जाते हैं और निष्क्रिय अवस्था में बनी रहती हैं।

चित्र 7.4 – गेहूँ का अनावृत कण्ड

रोग चक्र (Disease Cycle)– इस रोग का रोगजनक दानें में सुषुप्त अवस्था में बने रहते हैं इसलिए यह अन्तः बीजोड़ रोग (Internally seed borne) है तथा बीजों के अंकुरण होने पर पौधे की वृद्धि के साथ शीर्ष क्षेत्र के साथ– साथ बढ़ते रहते हैं तथा पौधें में पुष्पन के समय विखण्डित होकर कवक जाल की प्रत्येक कोशिका, कण्ड बीजाणु में परिवर्तित हो जाती हैं एवं बाली में दाने के स्थान पर कण्ड पुंज प्रकट होता हैं। प्रत्येक कण्ड बीजाणु अंकुरित होकर पुनः संक्रमण सूत्र बनाता हैं जो वर्तिकाग्र को भेदते हुए अण्डाश्य में पहुँच कर सुषुप्त अवस्था (Dormant mycelium)में पड़ा रहता हैं।

प्रबन्धन (Management) -

शस्य प्रबन्धन (Cultural management) :

1. संक्रमित बालियों एवं पौधों को खेत से हटा देना चाहिए तथा ऐसे खेतों के दानों को बीज के रूप में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए।
2. संक्रमित बीजों को 3 – 4 घण्टें ठण्डे पानी में भीगो कर 54–56° सेन्टीग्रेड तापक्रम के गर्म पानी में 10 मिनट तक डुबो कर निष्क्रिय किया जा सकता हैं।
3. पंजाब में लूथरा एवं सत्तार (1934) ने बताया कि संक्रमित बीजों को जून माह में सुबह 4 घण्टे ठण्डे पानी में भीगो कर दोपहर में सूर्य की धूप में 4 घण्टे तक सुखा कर रोग को नियंत्रित किया जा सकता हैं।

जैविक प्रबन्धन (Biological managment) :

प्रतिरोधी किस्म – कल्याण सोना, डब्ल्यू.जी. 307, सी. 302, पी.बी. 18 का प्रयोग किया जाना चाहिए।

रासायनिक प्रबन्धन (Chemical management) :

1. बीजों को कार्बोक्सीन की 2 से 2.5 ग्राम प्रति किलो की दर से उपचारित कर बुवाई करनी चाहिए।

5. जौ का आवृत्त कंड (Covered Smut of Barley) :

जौ का आवृत्त कंड रोग एक मुख्य रोग है। इस रोग का प्रकोप पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश एवं बिहार के कुछ भागों में अधिक होता है। इस रोग को कान्ही, बन्द कण्डुवा, ढका हुआ कण्डुवा आदि नामों से भी जाना जाता है। इस रोग के कारण फसल को औसतन 2.5 प्रतिशत तक हानि होती है।

लक्षण (Symptoms)– इस रोग का प्रथम लक्षण पौधों में बालियाँ निकलने पर पता चलता है जब दानों के स्थान पर कण्ड पुञ्ज (Smut sori) बनता है।

पौधों की रोगी बालियां काली व जली सी दिखाई देती हैं। प्रत्येक अण्डाशय सघन कण्ड बीजाणु समूह से भरे रहते हैं। बाली के सभी दानें सोरस या कण्ड बीजाणु पुञ्जों में परिवर्तित हो जाते हैं।

ये कण्ड पुंज पतली मजबूत झिल्ली (Silvery membrane) एवं तुषों के अवशेष से ढके रहते हैं, इसलिए इन्हें आवृत्त कण्ड (Covered smut) कहते हैं।

चित्र–7.5 जौ का आवृत कण्ड

AGRIGYAN.IN

पुंज में भरे कण्ड बीजाणु एक प्रकार के वसायुक्त पदार्थ की उपस्थिति के कारण आपस में चिपके रहते हैं। शुकों को छोडकर पुष्पों के सभी भाग कण्ड बीजाणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं एवं पुंज की झिल्ली खलियान में गहाई के समय टूट जाती हैं व कण्ड बीजाणु बिखर कर स्वस्थ बीजों पर चिपक जाते हैं।

रोगजनक (Pathogen)— *अस्टिलेगो होर्डाई (Ustilago hordei)*

रोग जनक के कण्ड बीजाणु गोलाकार से दीर्घ वृत्तीय, मोटी भित्ति युक्त तथा एक कोशिकीय चिकने होते हैं। ये समूह में गहरे भूरे रंग से काले रंग के व अकेले में हल्के भूरे रंग के दिखाई देते हैं। नमी की उपस्थिति में अंकुरित होकर तीन पटयुक्त प्राक्कवकतंतु बनाते हैं, जो चार कोशिकाओं में विभक्त होकर प्रत्येक खण्ड पर बीजाणुक बनाते हैं। बीजाणुक गुणन कर अपनी संख्या बढ़ाते हैं तथा संक्रमण को फैलाते हैं।

रोग चक्र (Disease Cycle)— खलियान में जब स्वस्थ बीज के साथ कण्ड युक्त बीजों की गहाई की जाती है तो बीजाणु स्वस्थ बीजों पर चिपक जाते हैं, इसलिए यह बाह्यबीजोड़ (Externally seed borne) रोग है। जब सन्दुषित बीजों को बोया जाता है तो कण्ड बीजाणु अंकुरित होकर चार कोशिकीय प्राक्कवकतंतु को उत्पन्न करते हैं जिस पर विपरीत आवेश के बीजाणुक बनते हैं। इन बीजाणुकों के अंकुरण होने से जनन नलिका बनती हैं, तथा विपरीत उदभव के जनन नलिकाएं आपस में मिलकर द्विकेन्द्रकीय संक्रमण सूत्र को बनाते हैं जो पौधे के अंकुरित होते बीज के प्रांकुर को संक्रमित करते हैं तथा उसकी वृद्धि के साथ–साथ बढ़ता रहता हैं तथा अण्डाशय में जाकर शाखित हो जाता है तथा प्रत्येक खण्ड एक कण्ड बीजाणु में परिवर्तित हो जाता है, जो पुनः स्वस्थ बीजों के साथ गहाई करने पर उन्हें संक्रमित करता है।

प्रबन्धन (Management):

शस्य प्रबन्धन (Cultural management):

1. बीजों का चयन ऐसे खेत की फसल से करना चाहिए जो रोग मुक्त हो
2. संक्रमित पौधों की बाली को किसी कागज या लिफाफे में ढक कर पौधें को उखाड़ देना चाहिए तथा इसे मिट्टी में दबा देना चाहिए।

जैविक प्रबन्धन (Biological managment):

प्रतिरोधी किस्म – सी. 163 (असंक्रमणीय) बी.जे.–13, 14, 24, 26, 28, 29, बी.जे. – 309–1–4–4 को उगाया जाना चाहिए।

रासायनिक प्रबन्धन (Chemical management)

बीजों को सर्वांगी कवकनाशी ऑक्सीकार्बोक्सीन या कार्बोक्सीन की 2 ग्राम प्रति किलो बीज की दर से उपचारित करके रोग प्रबन्ध किया जा सकता है।

6. सरसों का सफेद रोली रोग (White Rust of Mustard):

यह सरसों कुल की सभी प्रजातियों में पाया जाने वाला विश्वव्यापी रोग है। भारत वर्ष में सर्वप्रथम सफेद रोली रोग को पश्चिमी बंगाल के कलिंग पांग क्षेत्र में देखा गया था। वर्तमान में यह रोग सरसों उत्पादक सभी क्षेत्रों में पाया जाता हैं जैसे– राजस्थान, पंजाब, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि। ये रोग सरसों कुल के पौधों जैसे सरसों, तौरिया, राई, बन्दगोभी, फूल गोभी, मूली, शलजम आदि पर देखने को मिलता है।

लक्षण (Symptoms)— इस रोग के कारण पौधों में – 1. स्थानीय (Local) एवं 2. सर्वांगी (Systemic) संक्रमण होता है। तदअनुरूप ही लक्षण प्रकट होते हैं।

1. स्थानीय संक्रमण— इस प्रकार के संक्रमण में पौधों की पत्तियों, तनों, पुष्प वृंतों पर चमकीले सफेद से क्रीमी रंग के उभरे हुए फफोले सदृश स्फोट बनते हैं। इनका आकार एक से दो मिलीमीटर तक हो सकता हैं। पत्तियों पर बनने वाले स्फोट आपस में संलयित होकर बड़े–बड़े स्फोट में परिवर्तित हो जाते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में स्फोट पत्ती की निचली सतह पर बनते हैं परन्तु उग्र अवस्था में ऊपरी सतह पर भी बनने लगते हैं व बाह्य त्वचा के फटने से बीजाणु धानी पुंज सफेद चूर्ण (Sporangia) दिखाई देने लगते हैं।

चित्र– 7.6 (1) सफेद रोली से संक्रमित पत्ती

2. सर्वांगी संक्रमण— सर्वांगी दैहिक संक्रमण होने पर तनों के फूलने से विभिन्न भागों में सूजन दिखाई देती हैं। पुष्पक्रम की पुष्पी भाग फूलकर अत्यधिक विकृत दिखाई देते हैं। पुष्पक्रम

AGRIGYAN.IN

अतिवृद्धि या कुरूपित होकर महामृग शीर्ष (stag head) को बना देते हैं तथा बंध्य हो जाते हैं। पुष्पांग फूले हुए मांसल हरे या बैंगनी रंग के हो जाते हैं। पंखुडियाँ बाह्य दल के समान हरे रंग की पुंकेसर पत्ती के समान या कभी–कभी स्त्रीकेसर के समान विरूपित हो जाते हैं। कभी–कभी पुंकेसर फूलकर मुद्गर जैसी आकृति के और अण्डाशय फूलकर मांसल हो जाता हैं। पराग कण एवं बीजाण्ड के शीर्ण या अपशय होने के कारण बीज नहीं बनते हैं। स्वस्थ सुषुप्त कलियाँ उद्दीप्त होकर पार्श्वी शाखाओं के रूप में विकसित हो जाते हैं। वर्षा होने पर रोगी पौधे सड़ जाते हैं परन्तु शुष्क अवस्था में मृगशीर्ष (Stage head) शुष्क खड़े होकर ऐंठन भरे दिखाई देते हैं।

चित्र – 7.6 (2) महामृग शीर्ष (Stage head)

रोगजनक (Pathogen)–*एलब्यूगो केण्डिडा (Albugo candida)*

यह कवक अविकल्पी परजीवी (obligate parasite) होता है। इसका कवकजाल अन्तः पादपी, सुशाखित, पटहीन, संकोशिक एवं काचाभ होता हैं। इनमें छोटे–छोटे घुंडीनुमा चूषकांग बनते हैं। अन्तरा कोशिक कवक जाल परपोषी बाह्य त्वचा के नीचे इकट्ठे होकर चौड़े, छोटे, मुद्गराकार (club shaped) बीजाणु धानीधरों का निर्माण करते हैं। बीजाणु धानीधरों के सिरों पर तलाभिसारी (basipetal) श्रृंखला में बीजाणु धानियाँ उत्पन्न होती हैं। श्रृंखला में सबसे ऊपर वाली बीजाणु धानी मोटी भित्ति युक्त होती हैं, जो बाह्य त्वचा पर दबाव डालती हैं। प्रायः अंकुरण नहीं करती परन्तु बाह्य त्वचा को तोड़ने का कार्य करती हैं। बाह्य त्वचा के टूटने पर बीजाणु धानियाँ बाहर निकल आती हैं। बीजाणु धानियाँ गोलाकार, एककोशिक, काचाभ, बहुकेन्द्रकीय, चिकनी होती हैं। बीजाणु धानियाँ भी प्रायः श्रृंखला में बनती हैं व एक जिलेटिनी गद्दी या तनुयोजी (isthmus), से जुड़ी रहती हैं। नमी की अवस्था में तनुयोजी घुलनशील हो जाती है, फलस्वरूप बीजाणु धानियां अलग–अलग होकर बिखर जाती हैं तथा अंकुरण नलिका बना कर अंकुरित हो जाती हैं व चलबीजाणु का निर्माण करती हैं। चलबीजाणु एक कोशिक, द्विकशाभिक, रसधानियुक्त, वृक्काकार, हृदयाकार होते हैं। ये पानी की पतली सतह में कशाभिका द्वारा गति करने के बाद कशाभिका गिरा कर पुटिभूत हो जाते हैं तथा जनन नलिका बनाकर अंकुरित होते हैं। जो परपोषी में रंध्र द्वारा प्रवेश कर नया कवक जाल स्थापित करते हैं। बीजाणु धानी के अंकुरण का अनुकूल तापक्रम 10 डिग्री सेन्टीग्रेड होता हैं।

ये कवक विषम थैलसी (Heterothallic) है। अतः इनमें विषमयुग्मता (oogamy) पायी जाती है। मादा युग्मक को अण्डधानी (oogonium) एवं नरयुग्मक को पुधानी (Antheridium) कहते है। जिनके निषेचन के कारण निषिक्ताण्ड बनता है। जो पौधों के अवशेषों एवं मृदा में जीवित बना रहता है। निषिक्ताण्ड गोलाकार गहरे पीले से भूरे रंग के मोटी भित्ती युक्त होते है जो अंकुरण नलिका एवं पुटि बनाकर अंकुरित होते हैं।

रोग चक्र (Disease Cycle)–इस रोग का रोग जनक निषिक्ताण्ड के रूप में पौधों के अवशेष, भूमि तथा बीज के साथ रोग ग्रस्त पौधों के भागों पर जीवित बना रहता हैं। अनुकूल वातावरण में चल बीजाणु बनाकर अंकुरण कर नयी फसल में संक्रमण करता है।

प्रबन्धन (Management) -

शस्य प्रबन्धन (Cultural management) :

1. सरसों की फसल की शीघ्र बुवाई की जानी चाहिए।
2. रोगग्रस्त पौधों के अवशेषों को नष्ट कर देना चाहिए।
3. स्वस्थ बीजों का प्रयोग करना चाहिए।
4. खरपतवारों को नष्ट कर देना चाहिए।
5. 3–4 वर्ष की फसल चक्र जिसमें अपरपोषी फसलों को रखना चाहिए ताकि प्राथमिक निवेश द्रव्य नष्ट हो जाये ।
6. श्वेत किट से प्रभावित महा मृगशीर्ष को तोड कर नष्ट कर देना चाहिए।

जैविक प्रबन्धन (Biological managment) :

प्रतिरोधी किस्में – जैसे– क्रांति (पी.आर.15), टी.एम. 20, आर.एन. 510, एन.पी.जे. 81, आर.के. 01–03, एम.डी.वाई.आर. 2029, एन.पी.सी. 15,9,12 पी.बी.एन. 2001, 2002, 2004, पी.बी. सी. 9221, पी.ए.बी. 2001, 2002 को उगाना चाहिए।

रासायनिक प्रबन्धन (Chemical management) :

1. बीजों को मेटालेक्जिल (एप्रोन एस.डी. 35) से 6 ग्राम प्रति किलो बीज या 2.5 ग्राम मैन्कोजेब से बीजोपचार कर बुवाई करें।

AGRIGYAN.IN

2- बुवाई के 21 दिन बाद मैन्कोजेब (2.5 ग्राम/ली.) या "मेटालेक्जिल + मैन्कोजेब" (रिडोमिल एम.जेड़ 72) 2 ग्राम/ली. की दर से पानी में घोलकर छिड़काव करना चाहिए।

7 बैंगन का लघु पर्ण रोग (Little Leaf of Brinjal) –

बैंगन का लघु पर्ण रोग भारत, श्रीलंका, बांग्लादेश व अन्य पड़ौसी देशों में पाया जाता है। भारत में सर्वप्रथम यह रोग 1938 में कोयम्बटूर (तमिलनाडु) में देखा गया।

भारत के अधिकांश राज्यों में बैंगन की लाभदायक खेती के लिए यह रोग एक गंभीर चुनौती है क्योंकि जब फसल के शैशव काल में यह रोग प्रकट हो जाता है तो पुष्प और फल नहीं बनते हैं तथा फसल को फल उत्पादन में 99 प्रतिशत तक हानि पहुँच सकती है। संक्रमित पौधों के फलों के बीज अंकुरण की क्षमता खो देते हैं।

लक्षण (Symptoms)– इस रोग का प्रमुख लक्षण पौधों की पत्तियों का आकार में छोटा रह जाना हैं क्योंकि इस रोग में पर्णपटल बहुत छोटा हो जाता हैं तथा पर्णवृत भी आकार में इतने छोटे रह जाते हैं कि पत्तियाँ तने से चिपकी दिखाई देती हैं।

छोटी पत्तियाँ सकरी, चिकनी, मृदु नरम एवं पीले रंग की होती हैं। नई निकलने वाली पत्तियाँ का आकार और भी छोटा रह जाता हैं।

तने की पर्व संधियाँ भी छोटी रह जाती हैं तथा इनके कक्षीय कलिकाएँ उद्दीप्त होकर छोटी–छोटी शाखाओं के रूप में वृद्धि करती हैं। इन पर छोटे पर्णवृत वाली संकीर्ण पत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। पूरा पौधा स्तम्भित या झाड़ीनुमा दिखाई देता हैं।

प्रायः संक्रमित पौधों पर पुष्प नहीं बनते और यदि बनते भी हैं तो हरे रह जाते हैं। फल प्रायः नहीं बनते हैं और जब बनते हैं तो आकार में छोटे एवं कठोर होते हैं।

चित्र– 7.7 बैंगन का लघुपर्ण रोग

रोगजनक (Pathogen)– फाइटोप्लाज्मा (Phytoplasma)

बैंगन के लघुपर्ण रोग को 1968 से पूर्व एक विषाणु जनित रोग माना जाता था परन्तु 1969 में ऐसे तथ्य प्राप्त हुये जिनके तहत माइकोप्लाज्मा–सदृश जीव (MLOs) द्वारा जनित रोग माना जाने लगा। वर्ष 1994 में इसका नाम बदल कर फाइटोप्लाज्मा कर दिया गया है। फाइटोप्लाज्मा अण्डाकार 200–800 नेनोमीटर व्यास की संरचना होती हैं जिसमें दृढकोशिका भित्ति का अभाव पाया जाता हैं। ये सूक्ष्म जीव जड़ों, शाखाओं, तनों एवं पर्णवृत के दारू ऊतकों में पाया जाता है।

वाहक (Vector) कीट *हिसीमोनस फाइसाइटिस (Hishimonus phycitis)* के द्वारा यह रोग फैलाया जाता है। ये रोग कृत्रिम अर्न्तवेशन द्वारा भी फैलता हैं तथा ये जीव टेट्रा साइक्लीन के प्रति संवेदनशील होते हैं।

प्रबन्धन (Management):

शस्य प्रबन्धन (Cultural management):

1. संक्रमित रोगी पौधे को तुरन्त उखाड़ कर जला देना चाहिए।
2. खेत तथा खेत के आस–पास के खरपतवारों को नष्ट कर देना चाहिए।

जैविक प्रबन्धन (Biological managment):

प्रतिरोधी किस्में– पुसा परपल क्लस्टर, अर्काशील, मंजरीगोटा, बनारस जाइन्ट, ब्लैक ब्यूटी, ब्रिंजल राउन्ड मध्यवृति प्रतिरोधी हैं। बी.बी. 7, बी.डब्ल्यू.आर. 12, पंत ऋतुराज, एच–8 इस रोग की प्रतिरोधी किस्में हैं जिन्हें उगाकर रोग से बचा जा सकता हैं।

रासायनिक प्रबन्धन (Chemical management):

1. रोगवाहक कीटों को नियंत्रित करने के लिए मिथाइलडेमेटोन (1 मि.ली. प्रति लीटर) या मैलाथियान (1 मि. ली. प्रति लीटर) का नियंत्रित छिड़काव करना चाहिए।
2. रोपण से पहले पौध की जड़ों को टेट्रासाइक्लिन (1000 पीपीएम) के घोल में डुबो कर रोपाई करनी चाहिए।
3. पौधों की चार–पांच सप्ताह की अवस्था में टेट्रासाइक्लिन (1000 पीपीएम) के घोल का छिड़काव कर रोग प्रबन्ध किया जा सकता है।

8. जीरे का म्लानि रोग (Wilt of Cumin)–

यह रोग जीरे की फसल का एक महत्वपूर्ण रोग है। ये रोग मृदोढ़ होने के कारण प्रतिवर्ष इसका क्षेत्र खेत में बढ़ता जाता है। राजस्थान में जीरा उत्पादन करने वाले क्षेत्रों में काफी व्यापक रूप से पाया जाता है।

AGRIGYAN.IN

लक्षण (Symptoms)– इस रोग के लक्षण जब पौधे एक माह के लगभग 2.5 से 5 सेन्टीमीटर की ऊँचाई के हो जाते हैं तो दिखाई देने लगते हैं।

इस रोग के लक्षण पहले निचली पत्तियों पर दिखाई देते हैं तत्पश्चात ऊपरी पत्तियों की ओर बढ़ते हैं। पौधे की पत्तियाँ मुरझा कर लटक जाती हैं तथा पत्ते भूरे पड़ने लगते हैं एवं पौधे के संवहनी ऊतको में भूरे रंग की धारियां दिखाई देती हैं।

पौधों के तने का छिलका उतार कर देखने पर फ्लोयम एवं जायलम में ऊतकक्षय रोग दिखाई देता हैं।

यदि पौधे पुष्पन अवस्था में संक्रमित होते हैं तो बीज नहीं बनते हैं और यदि बनते हैं तो पतले, छोटे, सिकुड़े हुए रह जाते हैं।

चित्र – 7.8 जीरे का म्लानि रोग

रोगजनक (Pathogen)– *फ्यूजेरियम ऑक्सीस्पोरम* प्रजाति *क्यूमिनाइ (Fusarium oxysporum* f.sp. *cumini)*

यह रोगजनक एक विकल्पी मृतोपजीवी होता है। यह पौधे के अवशेषों में कवकजालीय अवस्था या क्लैमाइडोबीजाणु के रूप में जीवित बने रहते हैं तथा अनुकूल अवस्था में गुणन कर पौधे को संक्रमित कर देते हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रायः सिंचाई के जल, वायु, अन्तरशस्य क्रियाओं द्वारा फैलते हैं। ये रोग 12.5 डिग्री सेन्टीग्रेड से 14 डिग्री संेटीग्रेड के मध्य तेजी से फैलता हैं।

प्रबन्धन (Management):

शस्य प्रबन्धन (Cultural management):

(1) जीरे की फसल के साथ सरसों एवं बाजरे की फसल को फसल चक्र में अपनाया जाना चाहिए।

(2) ग्रीष्मकालीन जुताई व सूर्य के प्रकाश से खेत को तपा कर (Soil solarization) म्लानि रोग के प्राथमिक निवेश द्रव्य को कम किया जा सकता हैं।

जैविक प्रबन्धन (Biological managment):

1. प्रतिरोधी किस्में– जी.सी. 4, जी.सी. 3, आर.जेड. 223 का प्रयोग किया जाना चाहिए।

2. ट्राइकोडर्मा कल्चर से बुवाई के पहले भूमि उपचार (4 कि.ग्रा./है.) तथा बुवाई के समय बीजोपचार (4 ग्राम/कि.ग्रा. बीज) कर बुवाई करना चाहिए।

रासायनिक प्रबन्धन (Chemical management):

1. बीजों को केप्टान (0.2 प्रतिशत) या थायराम (02. प्रतिशत) या कार्बेन्डाजिम (0.1 प्रतिशत) या कार्बेन्डाजिम + थायरम (1:2 के अनुपात में) से बीजोपचार करना चाहिए।

9. जीरे का छाछ्या रोग (Powdery Mildew of Cumin)–

जीरे के छाछ्या रोग का प्रकोप मुख्य रूप से राजस्थान व गुजरात में अधिक देखा जाता है। यह रोग भारत के जीरा उत्पादन करने वाले सभी क्षेत्रों में प्रायः पाया जाता है।

लक्षण (Symptoms)– इस रोग के लक्षण सर्वप्रथम निचली पत्तियों पर सलेटी से धूसर रंग के धब्बों के रूप में दिखाई देता है। अनुकूल अवस्था में पत्तियों के सतह पर कवकजाल व कोनिडिया बीजाणु सफेद चूर्ण के रूप में दिखाई देते हैं। पौधे की नवजात पत्तियों पर भी संक्रमण दिखाई देता हैं।

तना, पुष्प, पुष्पक्रम, फल आदि पर भी कवकजालीय वृद्धि सफेद चूर्ण के रूप में दिखाई देती हैं।

पौधे पर नम तथा गर्म मौसम का प्रभाव अधिक दिखाई देता हैं। अनुकूल वातावरण होने पर सम्पूर्ण खेत ही ऐसा लगता हैं जैसे कि उस पर सफेद चूर्ण बुरका दिया गया हो।

सिंचित अवस्था में देर से बोयी जाने वाली फसल इस रोग से अधिक प्रभावित होती है।

रोगजनक (Pathogen)– *ऐरीसाइफी पोलीगोनी (Erysiphe polygoni)*

रोग चक्र (Disease Cycle)– कवक सुषुप्त कवकजाल के रूप में पादप अवशेषों पर पाया जाता हैं एवं एक मौसम से दूसरे मौसम तक जीवित बना रहता हैं एवं अगली फसल में सक्रमण फैलाता हैं।

प्रबन्धन (Management):

शस्य प्रबन्धन (Cultural management):

1. संक्रमित पौधों के अवशेषों को नष्ट कर देना चाहिए।

जैविक प्रबन्धन (Biological managment):

1. प्रतिरोधी किस्म– हिसार माधवी, आर.एम.इ. 305 एवं मध्यवर्ती प्रतिरोधी किस्म– आर.सी.आर. 435 का प्रयोग किया जाना चाहिए।

रासायनिक प्रबन्धन (Chemical management):

1. पुष्पन के समय 28 किलो सल्फर धूली प्रति हैक्टेयर की दर

AGRIGYAN.IN

से जनवरी माह में बुरकाव करने से रोग को नियंत्रित किया जा सकता है।

2. आवश्यकता अनुरूप बीज बनते समय भी 13.5 किलो सल्फर धूली प्रति. हैक्टेयर की दर से बुरकाव करना चाहिए।

3. डाइनोकेप (0.1 प्रतिशत) का छिड़काव कर रोग को रोका जा सकता हैं।

मुख्य बिन्दु

1. गेहूँ में तीन प्रकार के रोली रोग होते है जिन्हें काला, भूरा, पीला रोली कहते हैं।
2. गेहूँ का काला/तना रोली रोग *पक्सिनियां ग्रेमिनिस ट्रिटिसाई* के कारण होता है।
3. गेहूँ के काला या तना रोली रोग की पुनरावर्ती ग्रीष्मकाल में पहाड़ी क्षेत्रों नीलगिरी या पुलनीहिल्स तथा हिमालय के तरायी क्षेत्रों में बोयी गयी गेहूँ की फसल या सम्पार्श्विक परपोषी पर यूरेडो बीजाणु जीवित बने रहते है तथा अनुकूल स्थिति में नये यूरेडोबीजाणु के द्वारा रोग फैलाते है।
4. *ब्रेकीपोडियम सिलवेटिकम, ब्राइजा माइनर, ब्रोमस पेटूलस, एग्विना फेटुआ* घास की प्रजातियाँ गेहूँ के तना रोली के सम्पार्श्विक परपोषी के रूप पाया जाता है।
5. गेहूँ का पर्ण रोली रोग *पक्सिनिया रिकॉन्डिटा* से होता है।
6. गेहूँ का पर्ण रोली रोग का रोगजनक *थैलिक्ट्रम जेपोनिकम* एवं *थैलिक्ट्रम फ्लेवम* एकान्तर परपोषी पर पाये जाते है।
7. रूस में *आइसोपाइरम फ्यूमेरिआइड्स* गेहूँ के पर्णरोली रोग के एकान्तर परपोषी की भूमिका अदा करते है।
8. गेहूँ का धारी या पीलारोली रोग *पक्सीनिया स्ट्राईफॉरमिस* द्वारा होता है।
9. गेहूँ के रोली रोगों के उपचार हेतु बीजों को ऑक्सीकार्बोक्सीन द्वारा उपचारित कर या प्रोपेकोनेजोल का छिड़काव कर नियंत्रित किया जा सकता है।
10. गेहूँ के रोली रोग भिन्नाश्रयी *(Heteroecious)* प्रकृति के होते हैं। इनके जीवन चक्र पूर्ण करने के लिए दो प्रकार के परपोषियों की आवश्यकता होती है।
11. गेहूँ का अनावृत कण्ड *अस्टिलेगो सेजेटम ट्रिटिसाई* नामक रोग जनक से होता है।
12. जौ के अनावृत कण्ड को कार्बोक्सीन से उपचारित कर नियंत्रित किया जा सकता है।
13. जौ का आवृत कण्ड *अस्टिलेगो होर्डाई* के द्वारा होता है।
14. सरसों का सफेद रोली रोग का रोग जनक एलब्यूगो केण्डिडा है।
15. सरसों के सफेद रोली रोग में स्थानीय तथा सर्वांगी प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं।
16. सरसों के सफेद रोली रोग का प्रबन्धन मेटालेक्सिल या मेन्कोजेब द्वारा किया जा सकता है।
17. बैंगन का लघुपर्ण रोग को भारत में सर्वप्रथम तमिलनाडु प्रान्त के कोयम्बटूर में 1938 में देखा गया।
18. बैंगन का लघुपर्ण रोग फाइटोप्लाज्मा के कारण होता है। इनका आकार 200–800 नेनोमीटर व्यास का होता है।
19. जीरे का म्लानि रोग *फ्यूजेरियम ओक्सीस्पोरम क्यूमिनाई* द्वारा होता है।
20. जीरे का छाछ्या रोग *ऐरीसाइफी पोलीगोनी* द्वारा होता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न –

1. गेहूँ के काला या तना रोली रोग का रोगजनक है।

   (अ) *पक्सीनिया ग्रेमिनिस ट्रिटिसाई*

   (ब) *अस्टिलेगो न्यूडा*

   (स) *पक्सीनिया स्ट्राइफोरमिस*

   (द) *ऑल्टरनेरिया सोलेनाई*

2. गेहूँ का अनावृत कण्ड रोग का प्रकार है।

   (अ) बाह्य बीजोढ़ (ब) अन्तःबीजोढ़

   (स) वातोढ़ (द) मृदोढ़

3. जौ के आवृत कण्ड के रोग जनक का नाम है।

   (अ) *अस्टिलेगो होर्डाइ*

   (ब) *अस्टिलेगो न्यूडा*

   (स) *स्फेसिलोथिका सोर्घाई*

   (द) *स्फेसिलोथिका कुरन्टा*

4. जीरे का म्लानि रोग होता है।

   (अ) *एरीसाईफी पोलीगोनी*

   (ब) *फाइटोप्लाज्मा*

   (स) *अस्टिलेगो सेजेटम*

   (द) *फ्यूजेरियम ऑक्सीस्पोरम*

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. गेहूँ का तना रोली रोग भारत में किस समय प्रकट होता है ?
2. गेहूँ में कितने प्रकार के रोली रोग होते है?

AGRIGYAN.IN

3. गेहूँ के भूरे रोली रोग के रोगजनक का नाम बताइये।
4. रूस में गेहूँ के पर्णरोली रोग के एकान्तर परपोषी का नाम बताइये।
5. गेहूँ के रोली रोगों के नियंत्रण हेतु काम में लिये जाने वाले दो कवकनाशी के नाम लिखो।
6. बैंगन के लघुपर्ण रोगजनक का नाम बताइये।
7. जीरे का छाछ्या रोग किस रोगजनक से होता है?
8. बैंगन के लघुपर्ण रोग की प्रतिरोधी किस्मों का नाम बताइये।
9. फाइटोप्लाज्मा के आकार का माप लिखिए।
10. गेहूँ के पीला रोली रोग का कारक बताइये।
11. गेहूँ के भूरा रोली रोग के एकान्तर परपोषी का नाम बताइये।
12. *ब्रेकीपोडियम सिलवेटिकम* किस रोग जनक का एकान्तर परपोषी है?
13. भारत में रोली रोगों का निवेश द्रव्य प्रतिवर्ष कहाँ से आता है?
14. सरसों के सफेद रोली रोग के प्रबन्धन में उपयोगी कवकनाशियों के नाम बताइये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न –

1. गेहूँ के तना रोली रोग में उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के बीजाणुओं का वर्णन करो।
2. भारत के मैदानों में प्रतिवर्ष रोली रोग की पुनरावर्ती किस प्रकार होती है ?समझाइये ।
3. बैंगन के लघुपर्ण रोग के रोगकारक का नाम बताइए।
4. बैंगन के लघुपर्ण रोग के लक्षणों का वर्णन कीजिए।
5. सरसों के सफेद रोली रोग के लक्षणों का वर्णन कीजिए।
6. जीरे के छाछ्या रोग के लक्षणों की विवेचना कीजिए।
7. जीरे के म्लानि रोग के लक्षण बताइये।
8. जौ के आवृत कण्ड के लक्षण बताइये।
9. गेहूँ के अनावृत कण्ड के प्रबन्धन का वर्णन कीजिए।
10. गेहूँ के अनावृत कण्ड के लक्षणों की विवेचना कीजिए।
11. गेहूँ के भूरे रोली रोग के लक्षणों का वर्णन कीजिए।
12. सरसों के सफेद रोली रोग का प्रबन्ध किस प्रकार करेंगे बताइये।
13. जीरे के म्लानि रोग के प्रबन्ध का उल्लेख किजिए।
14. जौ के आवृत कण्ड रोग को नियंत्रित करने की विधियों का वर्णन कीजिए।
15. गेहूँ पर पीले रोली रोग के लक्षणों का वर्णन कीजिए तथा रोगजनक का वर्णन कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न–

1. गेहूँ में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के रोली रोगों में विस्तृत विभेद कीजिए।
2. गेहूँ के अनावृत कण्ड रोग के लक्षण, रोग जनक एवं प्रबन्धन का वर्णन कीजिए। जहां आवश्यक है, चित्र भी बनाइये।
3. सरसों के सफेद रोली रोग के लक्षण, रोगजनक एवं प्रबन्धन का वर्णन कीजिए।
4. जीरे के म्लानि रोग के लक्षण, रोग जनक एवं प्रबन्धन की विवेचना कीजिए।
5. बैंगन के लघुपर्ण रोग के लक्षण, रोगजनक व प्रबन्धन का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला–

1. (अ), 2. (ब), 3. (अ), 4. (द)

AGRIGYAN.IN